Naveen Shodh Sansar (An International Refereed / Peer Review Research Journal)
RNI No.- MPHIN/2013/60638, ISSN 2320-8767, E- ISSN 2394-3793, Scientific Journal Impact Factor (SJIF)- 7.671
January to March 2024, E-Journal, Vol. I, Issue XLV

भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं पर्यावरण

डॉ. जी. एल. मालवीय* डॉ. खुमेश सिंह ठाकुर**

* सहायक प्राध्यापक (वाणिज्य) सुभद्रा शर्मा शासकीय कन्या महाविद्यालय, गंजबासौदा, जिला विदिशा (म.प्र.) भारत
** सहायक प्राध्यापक (अर्थशास्त्र) सुभद्रा शर्मा शासकीय कन्या महाविद्यालय, गंजबासौदा, जिला विदिशा (म.प्र.) भारत

प्रस्तावना – संस्कृति शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से कृत प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है। इसका शाब्दिक अर्थ है– उत्तम बनाना, संशोधन करना अथवा परिष्कार करना। इसमें पैतृक निपुणता, श्रेष्ठाताये, कला–प्रियता, विचार, आदते और विशेषतायें सम्मिलित रहती है। इस प्रकार संस्कृति का संबंध धर्म एवं दर्शन से लेकर सामाजिक परम्पराओं रीति–रिवाजों तथा मानव जीवन की सभी महत्वपूर्ण वैचारिक क्रियाओं से रहता है। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने यजीवन के नानाविधा रूपों के समुदाय को तथा डॉ. हजारी प्रसाद त्रिवेदी ने सभ्यता के आंतरिक प्रभाव को संस्कृति माना है। इस प्रकार संस्कृति का न केवल मानवीय संस्कारों से अपितु मानव जीवन के भौतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं साहित्यिक सभी प्रकार के विकास क्रमों से सतत संबंध रहा है।

निष्कर्षत: संस्कृति के माध्यम से ही मनुष्य अपने श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों की प्राप्ति में अग्रसर एवं प्रयासरत होता है। इसी सतत् प्रवहणशील सांस्कृतिक प्रक्रिया के माध्यम से व्यक्ति समाज अथवा राष्ट्र अपनी सर्वविध कलात्मक अभिवृत्तियों को क्रियान्वित करता है। भारतीय संस्कृति की कतिपय ऐसी मौलिक विशिष्टतायें है जिनके कारण यह आज भी संसार की अन्य संस्कृतियों के लिये अनुकरणीय एवं प्रेरणास्पद बनी हुई है।

प्रकृति का आवरण ही पर्यावरण कहलाता है। सामान्य रूप से हरी–भरी प्रकृति ही पर्यावरण की समृद्धि है। यहाँ हरी से तात्पर्य सुजला सुफला, मलयज शीतला, शस्य श्यामला धरती से है तथा **'भरी'** से तात्पर्य पशु–पक्षी, जीव–जन्तुओं की समानुपातिक अभिवृद्धि से है। यह पर्यावरण की अदभुत महिमा है जिसने पृथ्वी को जीवित जगत् का महनीय स्वरूप प्रदान किया। सौर मंडल में केवल पृथ्वी पर ही प्राणियों के लिये अनुकूल पर्यावरण उपलब्ध है। मानव सहित सभी पशु–पक्षी, जीव–जन्तु, वृक्ष, वनस्पतियां पर्यावरण की दुर्लभ देन है। यह पृथ्वीतल पर परिव्याप्त प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ वरदान है। प्रकृति का सृष्टिकाल से चला आ रहा अनुशासन है। पर्यावरण का संतुलन न केवल हमारी संस्कृति एवं सभ्यता के लिये अपितु शारीरिक एवं मानसिक विकास तथा सुख–शांति के लिये भी आवश्यक है। यदि भौतिक उपभोग वाद की प्रवृत्ति इसी तरह अनियंत्रित रूप से बढ़ती रही तो वह दिन दूर नहीं होगा जब हम खुली हवा में श्वांस नही ले सकेंगे, वृक्ष–वनस्पतियों से प्राप्त होने वाले कन्दमूल फल–फूल खा नहीं सकेगे, तथा प्रकृति प्रदत्त नदी, कूप, तालाबादि का जल पी नहीं सकेंगे। ऐसी स्थिति में आधुनिक विकासशील संस्कृति की सारी अवधारणायें व्यर्थ हो जायेगी। इसी प्रकार चाहे साहित्य सर्जना की बात हो अथवा सांस्कृतिक पुनरुत्थान की बात हो या मानवीय मूल्यों या संस्कारों के निर्माण की बात हो क्षेत्रीय परिवेश (पर्यावरण) की इसमें महत्वपूर्ण भूमिका रहती हैं एक ओर जहां साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है वहीं समाज अपनी परिस्थितियों की उपज होता है तथा ये दोनों मिलकर संस्कृति के निर्माण में सहायक होते है। किसी भी व्यक्ति अथवा समाज की चेतना उसकी क्षेत्रीय संस्कृति की जातीय सम्पत्ति होती है। इसलिये पर्यावरण संरक्षण एवं संवर्धन के मूल में संस्कृति का अवदान स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। प्राचीनकाल में जब संसार के अन्य देशों में संस्कृति का सूर्योदय नहीं हुआ था उस समय भारतीय अरण्य संस्कृति की सुषमा अपने ज्ञान–विज्ञान के आलोक से सम्पूर्ण भूमंडल को आलोकित कर रही थी। इस संदर्भ में निम्न पौराणिक कथन द्रष्टव्य है–

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मन:।
स्वं स्वं चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा:।।

संस्कृति एवं पर्यावरण का मानव जीवन से अटूट संबंध होता है। इनमें से एक के भी अभाव में जीवन के सद्भाव की कल्पना नहीं की जा सकती। भारत के भौगोलिक पर्यावरण में जहां देश की एकता एवं संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखा वहीं भारतीय संस्कृति अपनी सूक्ष्म एवं व्यापक विचारधारणाओं से पर्यावरण को प्रदूषित होने से बचाया। भारतीय सांस्कृतिक अवधारणा सदैव पर्यावरण पोषण की पक्षधर रही है। इस अवधारणा के अनुसार मनुष्य प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ कृति है, उसका एक महत्वपूर्ण संवेदनशील अंग है अतएव यदि प्रकृति का भली–भांति पोषण होता रहा तो उसके माध्यम से अपने व्यक्तित्व का विकास करता हुआ मनुष्य धर्म पूर्वक अर्थ एवं काम का संचय करके जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

'भारतस्य प्रतिष्ठे द्वे संस्कृतं संस्कृतिस्तथा।।'

विश्व की समस्त संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति ही मूल एवं सर्वोत्कृष्ट है। भारतीय संस्कृति का उद्गम है वैदिक वाङ्मय के आदि साहित्य ऋग्वेद से हुआ है। यहीं से भारतीय संस्कृति की अजब धारा आज तक इस देश में प्रवाहित होती चली आ रही है। इस पवित्र धारा में समुचित विधि से अवगाहन करने की सुविधा के लिये हमारे ऋषियों, मनीषियों तथा आचार्यों ने वेद, वेदांग, स्मृति, दर्शन, पुराण, इतिहास और काव्य–ग्रंथ आदि रूपों में अनेक पवित्र घाट बनाये हैं। इन पवित्र घाटों पर उतरकर इन्द्रिय निग्रह पूर्वक, बाह्य आवरणों को हटाकर हम गहराई में प्रवेश कर अवगाहन पूर्वक स्वयं को पुनीत करते हैं या कर सकते हैं। तत्पश्चात अपना सन्मार्ग तय करते हैं।

भूलोक अन्य लोकों में अत्यंत महनीय लोक है। यही चराचर जगत

नाम से विख्यात है। इसे ही कर्मभूमि कहा गया है। **'मन: शिवसंकल्पमस्तु' शुक्लयजुर्वेद (Practical part of the ved)** की इस ऋचा पर प्रथमत: विचार करें– जैसे ही मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा होना सीख लेता है तो कुछ करने के लिये आतुर हो जाता है। ठीक उसी क्षण यह वैदिक ऋचा पहले मन को शिवसंकल्प (परम लक्ष्य) से युक्त करने की प्रेरणा देती है। जिससे मन संचालित सिद्ध हो सकें। वस्तुत: इस संसार में मनुष्य किसान है, धर्म उसका खेत है। कर्म उसका बीज है, संस्कृति ही सिंचाई है और 18 भोग उसका फल है। मनुष्य को इस ओर सचेत करता हुआ कवि कहता है– **'धर्मेण हीन: पशुभि: समान:**।' गीता कहती है–**'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'**। हिन्दी साहित्यकार कहता है– बोये पेड़ बबूल का आम कहां से खाय। इसे और स्पष्ट करता हुआ संस्कृत कवि कहता है– **'अवश्य मेव भोक्तव्यं कृतं कर्म, शुभाशुभम'**। महाभारत में धर्म को क्षेत्र (खेत) कहा गया है।**'माता भूमि:'** वाक्य के अनुसार भूमि को माता कहा गया है। वैदिक साहित्य में **'यज्ञाद् भवति पर्जन्य: पर्जन्याद, अन्न सम्भव:**अ **अन्नाद् भवन्ति भूतानि.....**'कहा गया है। मूर्धान्य ग्रन्थ बृहत्संहिता में तो– **'अन्नं वे जगत: प्राणा:'** कहा गया है।

उपर्युक्त वाक्यों पर विचार करें तो हम पायेंगे कि जिस प्रकार 'आदिमध्यान्त हीनाय निर्गुणाय गुणात्मने' के अनुसार परमात्मा के दो रूप है– अमूर्तरूप और मूर्तरूप, उसी प्रकार 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम' के अनुसार धर्म स्वयं में अमूर्तरूप है और धरती उसका मूर्त रूप। वस्तुत: धर्म ही मूर्तरूप में होकर धरती नाम से सर्वत्र विख्यात है। जैसे धर्म में धारण करने का अमूर्त गुण विद्यमान होता है, वैसे ही धरती में भी धारण करने का मूर्त गुण प्रत्यक्ष है। परिणामत: वह धारयित्री पालयित्री रूप में सहजरूपेण परिचिता है। यही कारण है कि हमारे धर्म–ग्रंथ भगवद गीता का प्रारंभ **'धर्मक्षेत्र'** शब्द से होता है। यहां धर्मक्षेत्र शब्द धरती का ही बोधक है।

'धमो रक्षति' महाभारत का यह वाक्य बड़ा प्रसिद्ध है। यहां धर्म में रक्षा करने का अमूर्त गुण स्पष्ट है। अत: धर्म, में रक्षा करने का अमूर्त गुण स्पष्ट है। अत: धर्म के मूर्तरूप धरती (मातृस्वरूपा) में भी यह गुण होना स्वाभाविक ही है। **'मातैव रक्षति'** वाक्य साहित्य में उपलब्ध है। इसी गुण के कारण **'माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या:' और 'बन्दे भारतमातरम्'** जैसे असंख्य वाक्य हमारे विशाल साहित्य में भरे पड़े है।

वस्तुत: निष्कर्ष रूपेण देखा जाये तो इस धरती माता के कोरव से उत्पन्न होने वाले समस्त चराचर तत्तव परस्पर जीवन में आत्मीयता एवं सहभागिता का ही निर्वाह करते है। यहां भी उनका परस्पर अटूट संबंध प्रकट होना– एक ही आंगन में माता की ममता की छांव में आँचल तले स्वयं को अनुभव करना है। इसी भाव का बोध कराता हुआ हमारा साहित्य बोल पड़ता है– **'वसुधैव कुटुम्बकम'**

एक और रहस्य की बात जो समझने लायक है– एक शिशु जब अपनी जननी की गोद में होता है, तो भूख लगने पर वह माता का दूध पीने के लिए अपने हाथों से यत्र–तत्र स्पर्श करने और जो हाथ लग उसे मुख में डालने की क्रियाकृतरणायें व्यर्थ हो जायेंगी। आरंभ कर देता है। ठीक उसी प्रकार जब वह शिश धरती पर होता है तो वहां भी माता की गोद में रहने की क्रिया करने लगता है और माटी खाकर अपना पेट भरने लगता है। पूर्व में वह शिशु जब माता के गर्भ में होता है, तो माता माटी खाकर अपनी ममता को द्विगुणित करती देखी जाती है। इस भाव का भी संकेत हमारे साहित्य में उपलब्ध होता है। बालरूप कृष्ण का माटी खाना तो विदित ही है। हिन्दी साहित्य में उपलब्ध कविता मेरा नया बचपन की पंक्ति–

'कुछ खायी कुछ लिये हाथ में,
मुझे खिलाने आयी थी।'

हमें आज भी याद है। ऐसी ही तो कुछ है हमारी लौकिक संस्कृति। हमारे साहित्य में दिव्यादि तीनों लोकों की परिकल्पना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। यथा– **'अदिते: अपत्यं पुमान् आदित्य:'** रूप में आदित् आदि देवों का दिव्य लोक। **'दिते: अपत्यं पुमान् दैत्य:'** रूप में मनुष्यों का मानवलोक। इनमें सर्वोपरि दिव्य लोक है, सबसे नीचे दैत्यों का पाताल लोक है और दोनों के मध्य में मनुष्यों का मानव लोक या मृत्यु लोक है।

'तमसो मा ज्योतिर्गमय' उपनिषद् का यह महावाक्य हमें दैत्यलोक के तम से बचने और दिव्य लोक के प्रकाश में जाने की प्रेरणा देता है। वस्तुत: हमारा लोक एक दीपक के समान अव्यवस्थित है, जिसका ऊर्ध्वभाग तो प्रकाशित रहता है किन्तु अध: भाग तमो मय। इसी अभिप्राय से सर्वत्र प्रचलित लोकोक्ति है– **'दीया तले अंधोरा'**। इन्हीं प्रकाश और अंधकार रूप दोनों पाटों के बीच हम ऐसे फंसे है कि ऊर्ध्वगति अत्यंत दुष्कर है तो अधोगति में कल्याण नहीं है। इस ओर दोनों हाथ उठाकर कवि कहता है– **'दोउ पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय**।' इन्हीं दोनों पाटों को ऋषियों ने विद्या और अविद्या कहकर हमारा मार्गदर्शन किया है। यहां विद्या के माध्यम से प्रकाश की ओर जाने के लिए ऋषियों मनीषियों तथा संतों ने हमें साहित्य प्रदान किया है। जब विद्यार्थी प्राथमिक कक्षा उत्तीर्ण कर लेता है तो उसे पाठयक्रम के माध्यम से (अगली कक्षा में प्रवेश लेते ही) यह बोध करा दिया जाता है कि–

विद्या ददाति विनयं, विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति, धनाद् धर्मं तत: सुखम्श

यहाँ विद्या को मूल आधार बताकर विनय शीलता, पात्रता, धन प्राप्ति धर्माचरण और सुख आदि की बात कहीं गयी है। विद्या अध्ययन पर जोर देते हुए कवि कहता है–

प्रथमे नार्जिता विद्या, द्वितीये नार्जितं धनम्।
इसेतृतीये नार्जितं पुण्यं, चतुर्थे किं करिष्यतिश

यहाँ वर्तमान सम्पूर्ण जीवन काल को बराबर चार भागों में बांट कर विद्या आदि अर्जित करने के लिए कहा गया है। इसी प्रकार **'विद्या धनं सर्वधान प्रधनम'** वाक्य भी हमें विद्या अध्ययन की ओर उन्मुख करता है। विद्या की महिमा निरूपित करते हुए **'सा विद्या या विमुक्तये'** महावाक्य वैदिक साहित्य में कहा गया है। इस लोक से परलोक तक जाने का संवैधानिक मार्ग वस्तुत: विद्या के माध्यम से ही सुनिश्चित हो पाता है। इस दिशा में मुण्डकोपनिषद में विधान बताया गया है–

यदे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा चश

यहाँ विद्या के दो रूप बताये गये है– परा विद्या और अपरा विधा। वस्तुत: परा विद्या परलोक में प्रचलित है और अपरा विद्या का प्रचार प्रसार इस लोक में किया गया है। यहां अपरा विद्या के भी मुख्यत: वश विंग निरूपित करते हुए मुंडकोपनिषद में कहा गया है–

ऋग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्वण:।
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दों ज्योतिषम्श

विद्या विषयक उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि विद्या अध्ययन के प्रति अतिशय निष्ठा की पराकाष्ठा होने से ही विद्या की अधिष्ठात वाग्देवी या सरस्वती देवी का सगुण रूप हमारे साहित्य में प्रकट

हुआ। इसी प्रकार अपरा विद्या के दस विभागों के प्रति अध्ययन निष्ठावश ही दस महाविद्याओं के नाम साहित्य में विख्यात हुए।

साहित्य समाज का दर्पण या आदर्श होता है। विश्व के प्राचीनतम साहित्यों में सम्वेद सर्वोपरि है। अन्वेद साहित्य से लेकर आज तक के साहित्यों में जो प्राणदायिनी संस्कृति उपलब्ध है वह हमारे जीवन-दर्शन के लिए पर्याप्त है। **'धारणाद धर्म इत्याहु:'** के अनुसार धर्म के समस्त भाव हमारी संस्कृति में व्याप्त हैं। **ते. आरण्यक में 'धर्मो विश्वस्य जगत:'** प्रतिष्ठा अर्थात धर्म को सम्पूर्ण जगत का आधार कहा गया है। **'धर्मों धरयते प्रजा:'** के अनुसार स्पष्ट है कि धर्म समस्त प्रजा को मातृवत धारण करता है। वस्तुत: इन तथ्यात्मक रहस्यों को समझना आज नितांत आवश्यक है।

गीता जो महाभारत का हिस्सा और महामुनि वेदव्यास की अमर विश्ववाणी है, न्याय और अन्याय के प्रश्न को उठाती हुई अपरा विद्याओं को स्वीकारती हुई मनुष्य को पराविद्याओं के मोक्ष मार्ग की ओर ले जाती है। यही अज्ञान से ज्ञान और अंधकार से प्रकाश की यात्रा है। पर इसे समझ लेना होगा कि अज्ञान की सत्ता माया की सत्ता की तरह एक सनातन सत्ता है। इसलिए सनातन केवल ज्ञान नहीं है, अज्ञान भी है। महात्मा तुलसीदास का विशिष्टा द्वैत इस मायने में विचारणीय है कि राम (परम तत्व) लक्ष्मण (अंश या जीव तत्व) किन्तु इन दोनों के बीच माया का तत्व सीता हमेशा यात्रारत है। हमारे चारों पुरुषार्थों में धर्म, अर्थ और काम के पुरुषार्थ तो इसी माया तत्व के विकास संवर्धन और परिष्कार के तत्व है। मोक्ष का चौथा शिखर वह शीर्ष कलश है, जो बगैर नीव दीवार और कंगूरे के संभव ही नहीं है। भारत के स्थानीय चिंतन से जो भी दर्शन पैदा हुआ है, उसमें यह चौथा हर जगह विद्यमान है। कभी मोक्ष तो कभी निर्वाण के रूप में उपनिषद तक ठीक ही कहता है कि मनुष्य को जल में कमल की तरह रहना चाहिए। लगभग पूरी की पूरी कमल नाल जल में निमग्न किन्तु कमल का पुष्प हमेशा भवसागर की मायावी सतह से ऊपर कीचड़ और गंदगी से अपराभूत। अविजेय। गीता में इसी को तो निष्काम कर्मयोग कहा गया।

मिथिला नरेश जनक को तभी तो विदेह कहा गया। माया के बीच रहकर भी माया से अपराजेय बने रहना। पर यह विज्ञान के कहने में जितना आसान है अनुभव और कर्म के धरातल पर उतना ही कठिन और लगभग असंभव है। इसे कबीर आदि भी मानते है और हमारे जमाने के महान द्रष्टा रवीन्द्रनाथ और कामायनी के अनोखे रचनाकार महाकवि जयशंकर प्रसाद भी।

गीतांजलि के कई गीत ऐसे हैं जहां इन दुविधापूर्ण जटिलताओं का बयान है। एक गीत में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ कहते है कि 'अरे मैं तो बहुत गहरी नींद में चली गई थी। वो आया बगल में बैठ अपनी सुमधुर वीणा बजा कर चल गया। मैं ऐसी अभागी कि मेरी नींद ही नहीं खुली। हम सब अपने बारे में सोचे तो ऐसे ही अभागे है। हम नींद को ही जागरण माने बैठे है। जबकि महाभारत बार-बार कहती है कि सच्चा योगी उस रात को दिन समझकर जागता रहता है जिसे यह संसार रात माने सोया पड़ा रहता है। कबीर ने इसे बहुत आसान ढंग से हिन्दुस्तानी जुबान में कह डाला-

सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवैश

फिर भी हम कबीर को याद कर रहे है, पूज रहे है, उनकी जयंतियां मना रहे है पर उस बोध तत्व से काफी दूर है जो इस साखी में है।

कामायनी हमारे युग की एक अनुपम दार्शनिक काव्य कृति है। बुद्धि के चरम विकास, भोगवाद और चौथे इंसानी दम्भ के अनेक प्रसंग इसमें चर्चित और चित्रित हैं। इच्छा क्रिया और ज्ञान की असंगतिपूर्ण संगति पर काफी गंभीर विचार यहाँ है। यह भी कहा गया कि समरसता में ही आनंद है। पर इस समरसता को समझे और समझाए कौन? क्या है यह समरसताफ कहीं यह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की समरसता तो नहीं है? या फिर माया जीव और ब्रह्म की समरसता है। या फिर भाग इच्छा क्रिया और ज्ञान कीफया इनसे की कुछ और जड़ और चेतन, अज्ञान और ज्ञान, पर और अपर, परा और अपरा की समरसता। जयशंकर प्रसाद लिखते हैं-

'समरस थे जड़ या चेतन,
सुंदर साकार बना था।
चेतनता एक बिलसती,
आनंद अखंड घना थाश'

जीवन में जो सुख है, वह इन्हीं जड़ वस्तुओं की सामूहिक गंगोत्री से पैदा होते है पर आनंद तो हमेशा आदमी के भीतर से अज्ञान के ज्ञान में बदल जाने पर फूटता है।

भारतीय सांस्कृतिक संरचना का प्रमुख आधार है- **'अनेकता में एकता की अनुभूति'**। यह अनुभूति केवल चेतन के प्रति ही नहीं अपितु अचेतन जगत् के प्रति भी दिखती है। वेदों में बहुदेववाद के मूल में एकदेववाद की ही प्राण प्रतिष्ठा की गई है। **'एकं सद्विप्रा बहुधवदन्ति'**। ऋग्वेद में एक ही विराट् पुरुष के मुख, बाहु, उरू तथा पैर से चारों वर्णों की उत्पत्ति तथा उसके मन, नेत्र, श्रोत्र तथा मुख से क्रमश: चन्द्र, सूर्य, वायु तथा अग्नि की उत्पत्ति बतलाते हुये सृष्टि की पर्यावरण मूलकता का स्पष्ट संकेत कर दिया गया है। वैदिक सृष्टि प्रक्रिया से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि न केवल देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, वृक्ष-वनस्पतियां अपितु पर्यावरण के सभी घटक एक ही स्रोत विराट पुरुष से जायमान है। पर्यावरण की इस देवी सृष्टि ने पर्यावरण तत्वों के प्रति देवात्मकता (ईशावास्य मिदं सर्वं) तथा पारिवारिक संबंधों (वसुधैव कुटुम्बकम) की भावना का सूत्रपात किया। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति में सत्य, अहिंसा, त्याग, तपस्या अपरिग्रह, उदारता, सहिष्णुता, समन्वय, आस्तिकता, धार्मिकता, दया, दान एवं पुनर्जन्म में विश्वास जैसी अनेक सद्भावनायें विद्यमान हैं जिनके मूल में न केवल पर्यावरण अपितु चरास्चर जगत् के कल्याण की भावना सन्निहित है।

पर्यावरण एवं मनुष्य के बीच भावनात्मक संबंधों की अभिव्यक्ति ही पर्यावरण के प्रति मानवीय चेतना का अभिव्यक्त रूप है। भूमंडल के जिस पर्यावरण में हम जन्म लेते है, जिसके अन्न, जल, वायु, भूमि से हमारा भरण-पोषण होता है उसके कण-कण से चाहे वह वहां की मिट्टी हो, पर्वत हो, नदियां हो, जीव-जन्तु, वृक्ष-वनस्पतियां हो उन सबको अपना समझना, उनसे प्रेम करना तथा उनके विकास में सतत प्रयत्नशील रहना पर्यावरण के प्रति सांस्कृतिक चेतना की पहचान रही है। प्राकृतिक तत्वों के प्रति प्यार एवं अनुराग की प्रवृत्ति, श्रद्धा एवं कृतज्ञता की अभिव्यक्ति तथा विशेष परिस्थिति में उनके संरक्षण एवं सवर्द्धन हेतु अपना सर्वस्व समर्पित करने की भावना ही भारतीय संस्कृति का आदर्श रही है। भारत की संस्कृति में **'असतो मा सदगमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय'** के सूत्र वाक्य यही तो है। खेद है कि इस देश ने शब्दों को तो पकड़ रखा है पर अर्थो से बेखबर है। वह जड़ की पूजा और साधना को ही सब कुछ माने बैठा है। उपभोक्तावाद यही तो है जहां शरीर की नाप-जोख से सुंदरताएं तय की जा रही है। जड़ की सत्ता को चेतना की छाती पर बिठाया जा रहा है। संस्कृति और साहित्य, काव्य और दर्शन यहीं आकर एक हो जाते है। एक ही सच को जब हजार हजार मुंह कहना शुरू

करते है तब ही कहा जाता है–

एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

1. डॉ. राकेश पाण्डेय : भारत का सांस्कृतिक इतिहास।
2. आचार्य बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य एवं संस्कृति।
3. जनार्दन भट्ट : भारतीय संस्कृति।
4. डॉ. एस. एल. नागौरी : भारतीय संस्कृति।
5. प्रो. सुरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव : भारतीय समाज एवं संस्कृति।
6. अरविन्द : भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्व।
7. जी. सी. पाण्डेय : भारतीय परम्परा के मूल स्वर।
8. गोपीनाथ कविराज : भारतीय संस्कृति एवं साधना।

****